961 NO·2

❀ ओ३म् तत्सत् ❀

सहज मार्ग

SAHAJ MARGA

वर्ष ५ अंक २

Year 5 Number 2

श्री रामचद्र मिशन, शाहजहाँपुर (उ० प्र०)
(भारतवर्ष)

Shri Ram Chandra Mission
Shahjahanpur, U. P. (India)

सम्पादक मंडल

काशीराम अग्रवाल, शाहजहाँपुर
सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव, लखीमपुर-खीरी (उ० प्र०)

वार्षिक मूल्य ३) एक अंक १)

प्रकाशक:—श्री रामचन्द्र मिशन पब्लिकेशन डिपार्टमेन्ट, शाहजहाँपुर
उत्तर प्रदेश (इण्डिया)

1961 · No 2

Comm(9)10

विषय सूची:—

विषय	लेखक	पृष्ठ संख्या
१—प्रार्थना		१
२—संपादक की बात		२
३—भजन	नारायण स्वामी	३
४—अध्यात्म (क्रमागत)	समर्थ गुरू श्री रामचन्द्र जी, फतेहगढ़	४
५—सती और शिष्य	श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्रीरामचन्द्र मिशन	७
६—उद्बोधन	श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव	१२
७—साधाना में प्रेम और सुरति का महत्व	श्री दुर्गा शंकर अवस्थी	१३
८—मानवता ही ईश्वर प्राप्ति का साधन है	कुमारी पुष्पा रानी सक्सेना	१६
९—मिट्टी के प्रयोग	काशीराम अग्रवाल	२४
१०-धर्म और अध्यात्म	सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव	२७
11-Progress on the path of Spirituality	Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.	33
12-The Evil Veil	Shri Raghavendra Rao	38
13-Talks on Shri 'Babu Ji's' Commentary on the Ten Commandments of the Sahaj Marga	by Dr. K. C. Vardachari	44
14-Psychic - Analysis, Self - Anyalsis and Psychic Penetration	Shri Raghunandan Prasad	52
15-The World Today	Shri Ishwar Sahai	57
16-समर्थ सद्गुरुस्तवनम	Acharya Shanker : Dakshinamurti Stotra	64

(सर्वाधिकार सुरक्षित)

सहज मार्ग

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान्निबोधत ।

(उठोजागो !! गुरुजनों को प्राप्त कर ज्ञान-लाभ करो)

वर्ष ५	शाकाब्द १८८३, सं० २०१८विक्रमी	अङ्क २
Year 5	Year 1961	No. 2

★ प्रार्थना ★

हे नाथ, तू ही मनुष्य—जीवन का ध्येय है।

हमारी इच्छाएँ हमारी उन्नति में बाधक हैं।

तू ही हमारा एक मात्र स्वामी और इष्ट है।

बिना तेरी सहायता तेरी प्राप्ति असम्भव है।

[श्री रामचन्द्र मिशन की दैनिक प्रार्थना]

संपादक की बातः—

प्रस्तुत अंक में विशेषतः पिछले वसन्तोत्सव के अवसर पर प्राप्त लेख आदि, जो पिछले अंक में नहीं आ पाये थे, दिये जा रहे हैं। अपने सत्संगी भाई बहनों से हमारा नम्र निवेदन है कि सहज मार्ग साधना पद्धति की समुचित व्याख्या और विशिष्टता प्रस्तुत करने वाले लेख आदि, जल्दी जल्दी अधिकाधिक भेजते रहने की कृपा करें, जिस से हमारी पत्रिका के मूल उद्देश्य की पूर्ति होती चले।

हमें अपने सभी पाठकों को यह सूचित करते हुये हर्ष होता है कि श्रद्धेय 'बाबू जी' की पुस्तक 'Reality at Dawn' का जर्मन भाषा में अनुवाद करने की अनुमति एक जर्मन विद्वान रॉबर्ट कॉख (Robert Koch) को हमारे मिशन की प्रकाशन समिति की ओर से प्रदान कर दी गई है। आशा है उपर्युक्त पुस्तक का जर्मन अनुवाद शीघ्र प्रकाश में आयेगा।

इस के अतिरिक्त हमारी लखीमपुर (खीरी) शाखा के सञ्चालक श्री ईश्वर सहाय जी के चार लेख जो हमारी पत्रिका के पिछले अंकों में क्रमशः 'Misunderstandings about Yoga' शीर्षक के अन्तर्गत निकल चुके हैं, शीघ्र एक पुस्तक के रूप में प्रकाशित हो रहे हैं। तिरुपति केन्द्र के संचालक श्री डा० के० सी० वरदाचारी की 'सहज मार्ग के दस नियमों पर, भाषण माला का क्रमिक प्रकाशन भी हमारी पत्रिका के इस अंक में पूरा हो रहा है। आशा है यह भी पुस्तकाकार शीघ्र प्रकाशित होंगे।

प्रस्तुत अंक हमारे पाँचवें वर्ष का दूसरा अंक है। इसके पहले के अंक जिन सज्जनों को किसी कारणवश प्राप्त न हो सके हों वह हमें शीघ्र सूचित करें। जिन ग्राहकों का वार्षिक चन्दा हो चुका हो वह अपना चन्दा भेज कर अनुग्रहीत करें।

—सम्पादक

भजन

प्रीतम तू मोहि प्रान ते प्यारो।

जो तोहि देखि हियो सुख पावत, सो बड़भागन वारो ॥१॥

तू जीवन धन सरबस तू ही, तू ही हगन को तारो।

जो तू कों पल भर न निहारूं, लागत जग अंधियारो ॥२॥

मोद बढ़ावन के कारन हम, मानिनि रूपहिं धारो।

नारायन हम दोउ एक हैं, फूल सुगंध न न्यारो ॥३॥

—नारायण स्वामी

अध्यात्म

(समर्थ गुरू महात्मा रामचन्द्र जी महाराज, फतेहगढ़)

(गताँक से आगे)

रूह (आत्मा) को अज्ञानी बताने में आज तक दुनिया के लोग क्यों डरते रहे हैं, इस के कारण सुनो !

दुनिया में आज तक ज्ञानी, ध्यानी, ऋषि, मुनि, पीर, पैगम्बर सन्त, महात्मा, औलिया हुए, किन्तु किसी ने नहीं कहा कि रूह अज्ञानी है, क्योंकि—

(१) पुरानी टेक छोड़ते उन की जान निकलती है ।

(२) कहने वाले डरते थे । बदनाम होना नहीं चाहते थे । दब कर मजलिसी शिकंजे में खिंचे रहने का उन को ज्यादा खयाल था। वह मजलिसी या मज़हबी दायरे से बाहर आने की हिम्मत नहीं कर सकते थे । क़ौमी (जातीय), मज़हबी (धार्मिक), मजलिसी (सामाजिक) फतवा (निर्णय) के विरुद्ध जाना सब से बड़ा पाप समझा जाता है ।

(३) कहने को तो सबने कहा किन्तु खोल कर किसी ने भी नहीं कहा । पर्दे को नहीं हटाया, राज़ व नयाज़ (secrecy) का नक़ाब असलियत के मुंह पर डाल रक्खा, और यह इशारा भी केवल उन की अपनी खुफ़िया सोसाइटी या पोशीदा मजलिसों में बताये जाते थे । अगर किसी ने समझा तो वाह वाह, और न समझा तो वाह वाह !

(४) उन लोगों ने ऐसे अमल (क्रियाएं) और शग़ल (ध्यान) जारी किये, जिस से मनुष्य का अन्तःकरण ऊंचा और हृदय

विशाल होता चले । सोहबत और सत्संग को नितान्त आवश्यक माना गया । इस प्रकार की क्रिया से सम्भव है कि मनुष्य कुछ दिनों बाद अपने आप ही हक़ीक़त को देख ले । इस प्रबन्ध और विचार के साथ अमलियत (वास्तविकता) की स्पष्ट व्याख्या नहीं की । इशारों, कहानियों, चुटकुलों और सूक्तियों तक ही अपने अन्तःकरण की अभिव्यक्ति को सीमित रक्खा । किन्तु हक़ीक़त की मरकज़ तुरदिल (इरफ़ोक़) और बतमी (आत्म) बन कर नहीं आ सकती है ।

* * * *

'अज्ञान' न जानने को कहते हैं, और जानना सिर्फ दिल का काम है, जो मध्यवर्ती, सम्मिलित और मिलौनी की दशा है । जहां मिलावट की दशा होती है, वहीं तफ़रीक़ी महल (विभेदात्मक वर्ग - Differential Categories) खींचे जाते और खींचे जा सकते हैं । जहां कोई एक ही चीज़ है, वहां चिन्तन और विचार की आवश्यकता और सम्भावना कहां हो सकती है । रूह और माद्दा दोनों ही इस ज्ञान के गुण से रिक्त हैं, या यदि उनमें यह है तो बीज रूप में है, और दिल ही उस के पर्दों को चाक करता है और उन के समझने के योग्य होता है । रूह में एकत्व और स्थिरता है । इसको यहां कारण देह बतलाया गया है । मन उस की ओर मज़ूल होता है, तो उस के जौहर को जज़्ब कर के उस जैसा बन जाता है ।

तुम नित्य प्रति सुषुप्ति - गहरी नींद में जाते हो । वहां तुम को क्या खबर रहती है ? कुछ भी नहीं । यह रोज़ाना के तजुर्बे की बात है । लेकिन सुषुप्ति से उठने और जागने पर दिल उस की हस्ती की खबर देता है । इस का कारण यह है कि दिल संस्कार की सूरत में अपने विशिष्ट सम्मिलित प्रभावों को साथ लिए जाता है । वहां जा कर रूह में डूब तो जाता है, किन्तु वापस आने पर उस का पता देता है । और वह पता है क्या ? बेखबरी की खबर, बेहिसी (इन्द्रिय-विषय-स्पर्श का अभाव) और बेहोशी का होश, और अज्ञान

का ज्ञान । इस के अतिरिक्त और वह कहता क्या है ? तुम उस से पूछ देखो , और तुमको वह स्वयं समझा सकेगा । अपनी ज़ाती तजुर्बा और निज-अनुभव, खालीपन लिये हुए इल्म फिर भी किताबी या केवल सुने सुनाये ज्ञान से लाख दर्जा बेहतर होता है ।

दो चीज़ों के मिलने से तीसरी हालत पैदा होती है, और वही हालत तमीज़ (विवेक) करती हुई दोनों ही से अपना काम निकालती है । दिल में यह तीनों चीजें एलानिया और स्पष्ट कर्म करती हुई हालत में मौजूद हैं । लेकिन रूह में यह तीनों चीजें बीज रूप अज्ञान की हालत में दबी हुई पड़ी रहती हैं, जो केवल एक चीज़ मालूम होती हैं । भैंस के गोबर और गधी के पेशाब को मिला कर धूप में रख दो, बिच्छू पैदा हो जायेंगे, और वह गोबर को खाने और पेशाब को पीने लग जायेंगे । यही काम दिल भी करता है । असलियत में जीवपने की विशिष्टता दिल ही से सम्बद्ध है । दिल न हो तो फिर जीव कैसा ? यह दिल तीन प्रकार के जिस्मों या शरीरों की मिली जुली हालत है । जब तक यह है तब तक जीव है लेकिन दिल को जीव नहीं कहते । रूह, दिल और जिस्म के सम्मिलन का नाम जीव है । यदि रूह और जिस्म न हों तो दिल का कहीं पता भी न रहे । इस में स्वयं की हस्ती कोई नहीं है, इन के सम्मिलन से इस की हस्ती (अस्तित्व) उत्पन्न होती है ।

(समाप्त)

[अगले अंक से इस लेख के आगे का लेख प्रारम्भ होगा]

सती और शिष्य

(श्री रामचन्द्र जी, अध्यक्ष श्री रामचन्द्र मिशन)

जिला सीतापुर के एक गाँव में एक सती का हाल में वाक़या हुआ है । कुल वाक़यात मुझे सुनाये गये । यह मसला ऐसा है जो अभी तक हल नहीं हुआ । अगर अपने आपको इससे मुकाबला करें तो मैं समझता हूँ कि मैंने जाने ईश्वर से प्रेम किया या नहीं ? ऐसा वाक़या देखने को कहाँ मिले ? उस वक्त अगर मैं मौजूद होता तो observation करने पर मुमकिन है कि बहुत सी बातें मालूम हो जातीं ऐसी स्त्रियों का ख्याल यह है कि अपने शौहर का साथ नहीं छोड़तीं । दोनों का सम्बन्ध आगे जरूर मिलता होगा । अगर सती होना इसीलिये है कि साथ न छूटे तो काबिल गुरु के ऐसे शिष्य जरूर मिलेंगे कि जो जिस्म छोड़ने पर अपने गुरु के करीब पहुँच जाते हैं । यदि ऐसा कोई शिष्य है तो क्या ख्याल कर लिया जावे कि वह सती के दर्जे पर है । यह आप तय करें । वैसे पुरुष Positive है और प्रकृति negative, स्त्रियाँ प्रकृति कही गई हैं और मनुष्य पुरुष । शिष्य Positive के ख्याल में रहता है और Positive का कब्जहान उसी वक्त होगा जब कोई खुद negative बन जावे । अपने आपको अगर गरीब और बेबस समझ लिया जावे तो क्या उसकी गुरुत्व और बेसरोसामानी पर कोई चीज जिसको कि उसने असल मान रक्खा है उस तरफ न उतरेगी ? अगर उस पर शुरू हो गई तो भाई इसके माने यह होंगे कि Positive की हालत negative में आकर उसको अपना सा बना रही है । अब आप यह कहेंगे कि इस लिहाज से स्त्री मर्द बन रही है । मगर भाई रूहानियत में मर्द उसको कहते हैं , जो मर्दियत से खाली है । अब जब हमने उसको दिल दिया है जो कि मर्दियत से खाली है तो वैसे ही हया भी बन

रहे हैं। अब जो मर्दियत से खाली है, उसको आप कहेंगे कि वह स्त्री है। मगर भाई स्त्री तो negative होती है और negative आप खुद हैं। इसके माने यह हुए कि वह negative भी नहीं है। तो अब मोहब्बत करने वाला न negative है न positive, न स्त्री है न पुरुष। आप जब negative बने तो फितरतन आपने उसको positive समझ लिया और ज्यों ज्यों सम्बन्ध जुड़ता गया और गहराई बढ़ती गई तो नतीजा यह हुआ कि न आप positive रहे न nagative, न स्त्री न पुरुष।

"जब सिन्धु में बिन्दु समाय गयो। तब दुनों सिन्धु समाकाहै॥"

तो भाई रूहानियत में तो यह हाल है कि जिसे से मुहब्बत की जाती है जो स्त्री है न पुरुष, और उसे यही चीज़ मिल जाती है। जब स्त्री अपने पति से इस भाव से मुहब्बत करती है और फिर यह शक्ति कि अपने जिस्म को जला देती है आवाज़ भी नहीं आती। उसकी तमाम उम्र की रियाज़त अपने पति के लिये ही होती है। और गालबन ज्यादातर यह पति पुरुष की हालत तक पहुँचे हुये नहीं होंगे। तो यह कैसे ख्याल कर लिया जावे कि इन स्त्रियों का Liberation हो जाता होगा। शिष्य अगर अपनी रियाज़त से अपनी निगाह को गुरु की उस हालत पर जहाँ ठहरा देता कि जो positive है न negative, तब तक उसका काम वह नहीं बनता जो कि उसका मक़सद है।

मेरा विचार है कि जिन तत्वों से आदमी बना है स्त्री, स्त्रियों को उस पर नियंत्रण प्राप्त हो जाता होगा। इसलिये कि उनकी निगाह इन तत्वों के ऊपर होती है, तो सती स्त्रियों की निगाह उनसे ऊपर जाना चाहिए। अगर गुरु की पहुँच उस आखिरी हद तक नहीं है जहाँ Liberation लाज़मी है तो शिष्य अगर ऐसे गुरु की मुहब्बत में चकनाचूर रहता है तो उस हालत से ज्यादा पहुँचना जब तक कि Direct सम्बन्ध ईश्वर से पैदा न कर लेना मुमकिन है इसलिये Direct Love को ज्यादा तरजीह दी जाती है।

सब कुछ तो हो गया, सती की हालत भी बयान हुई, किन्तु कितने आश्चर्य की बात है कि सती स्त्री बेचारी मोक्ष दशा को प्राप्त न कर सकी! वजह यह मालूम होती है कि स्त्री अपने पति को पति मान रही है और प्रकृति का नियम भी यही है कि पुरुष को अपने पति रूप में देखे और उससे connect रहे। इसलिये कि वह उसके आधार पर है। जब यह हालत है तो स्त्री ने अपने ख्याल को पुरुष की हद में ही कायम रक्खा है। वह उसी दायरे में मुहीत है। इसके आगे तवज्जह तब करसकती है जब पुरुष अपने ख्याल से महरूम हो गया हो। ऐसे महरूम होने वाले मनुष्य जरूर कम हुए होंगे, स्त्रियाँ मुमकिन है ज्यादा तादाद में हों। जब इन्सान अपने आपको स्वयं negative नहीं बना पाता तो दूसरे से जो उससे वाबिस्ता हो क्या उम्मीद की जाये कि वह अपने आपको उसके मुकाबले में negative बना सकेगा! मैं समझता हूँ कि इस लिहाज़ से गलती आदमियों की है जिसके कारण सती स्त्रियाँ पैदा नहीं होतीं। आप हंसेंगे कि वाह हम अपने आपको negative क्यों बनाये, पुरुष से स्त्री क्यों बने? गेहूँ से आटा क्यों बने और कुचलने की तकलीफ क्यों बरदाश्त करें?

जब तक कि गेहूँ पीसा नहीं जाता उसके गिलाफ और छुक्कल अलग नहीं होते, उसकी सफेदी ऊपर नहीं झलकती और उसकी गाँठ नहीं खुलती, इसलिये उसका फैलाव नहीं होता। यह negative बनना और कुछ नहीं है, केवल उस शक्ति को समाप्त कर देना है, जिसके द्वारा गेहूं बना था और ठोस हालत में आ गया था। जब तक आप ठोस हालत लिये हुए हैं, इफरादी (व्यक्तित्व) और अदद (संख्या) की शक्ल मौजूद है और आप शुमार में भी आ रहे हैं। जब यह चीज़ समाप्त कर दी तो अब यह कोई नहीं बता सकता कि इसकी इन्तहाई शक्ल क्या थी यानी उसकी ठोसता क्या थी? अब तो भाई, शक्ल बिखरी हुई रह जाती है जिसमें लुढ़कने की ताकत आ जाती है। यह negativeबनना है और जब आप अपनी इन्जमादी कैफियत(ठोस हालत)

खो बैठे तो पुरुष भी इसी निस्बत से अब खयाल में आने लगा, यानी Positivenessअब आपके ख्याल से जाती रही। जब आपने अपने ज़र्रात (कण) छिन भिन्न कर डाले और इन बन्धनों की जकड़ दूर कर डाली जिनकी वजह से उस Positive चीज की हालत भी Positive मालूम होती थी, यानी उसमें भी जकड़ महसूस होती थी, तो अब निस्बत पैदा होने लगी। जब आप में भी जकड़ का एहसास बाकी नहीं है और न वह शक्ति है कि वास्तव में जकड़ महसूस हो। अब एकसार हालत पैदा हो गई। अब न आप negative रहे और न वह positive। आपने अब इन दोनों बन्दिशों (बन्धनों) को भी यानी positive और negative को तोड़ डाला। अब कहिये आप क्या हो गये!

अब बताइये कि सती स्त्री में और इस हालत में क्या फर्क है? आप किसको बड़ा कहेंगे? सती अनुसूया के किस्से में यह लिखा है कि ब्रह्मा, विष्णु और महेश उनकी परीक्षा के लिए आये और इस तरह से उनकी परीक्षा की जो इनके शानशायाँ (बड़प्पन के अनुकूल) न थी। नतीजा यह हुआ कि वह इन तीनों को छोटा बच्चा बना कर पालने में झुलाने लगीं। पार्वती और लक्ष्मी जिनको कि यह ख्याल था कि हम ज्यादा सती औरतें हैं; अपने पतियों को ढूंढने आईं, देखा कि पालने में झूल रहे हैं। आगे किस्सा याद नहीं जो चाहे सो हुआ हो।

अनुसूया का यह किस्सा पेश नजर करता हूँ मिसाल के तौर पर। भाई, हिन्दू फिलासफी का अजीब हाल हुआ है कि जब नर का जिक्र हुआ तो मादीन पहले ख्याल में आ गई। जब विष्णु ख्याल में आये तो लक्ष्मी का होना भी जरूरी हो गया। नफ्स परस्ती इस हद तक बढ़ी कि लोगों की ऊपर निगाह ही न रही। जब देखा तब नीचे को ही देखा। मन के ऊपर की हालत को मन्द कर दिया। नीचे की हालत उसकी खूब विकसित हुई। भाई, अगर

बहुत उच्चतर दर्शन नफ्स के बारे में बतलाया जाये तो आप चौंक पड़ेंगे और रामचन्द्र की कुल फिलासफी को गलत कर देंगे। यह नफ्स की हालत क्या है। —यही निगेटिव की हालत है। फर्क इतना है कि जब आप Negatiree की हालत रूहानियत में लेते हैं तो उसके चारों तरफ के दरवाजे बन्द कर देते हैं। फिर धीरे धीरे उसका असली रूप आ जाता है मगर इसको nonentity (अनास्तित्व) की हालत कहीं न समझ जायें। यह बहुत ऊँची हालत है और इन सब का परिणाम है। इस चीज़ को लोग भूल गये और अपने रुख पर रास्ता अपना लिया। नतीजा यह हुआ कि हर किस्से में जोड़ा लगा दिया। हमारे यहाँ ऐसे किस्से भरे पड़े हैं कि जब तक negative बात न आ जाये कोई धार्मिक किस्सा पूरा ही नहीं हुआ। अब लोगों ने यह गल्ती क्यों की है जिस तरफ उनकी निगाह रही उसी का रंग और तलाज़मा बाँधने लगे। अब लोगों का मुमकिन है यह ख्याल हो गया हो कि जब तक इन्सान का विवाह द्वारा negative का मसला पूरा नहीं हो जाता, तब तक उसकी मुक्ति नहीं होती। Europe में तो भाई यह मसला जरूर ठीक ठीक उतर गया है। उनके दायरे के लिहाज से "no life without wife" ईश्वर बचाये इस ख्याल से हम लोगों को। और सुनों, रामायण की बात बताऊँ कि जब रामचन्द्र जी ने शिव की स्थापना की तो रावण सीता को लाया ताकि अनुष्ठान पूरा हो जाये और फिर वह उनको साथ ले गया। भला कौन सा कुदरती उसूल इस विषय में प्रतिरोधक होता था कि सीता जी को वहीं छीन लिया जाता। लोगों को यह पता भी नहीं कि वहाँ पर किसने स्थापना की थी। एक दैत्य था। उसने एक मूर्ति स्थापित कर दी थी। वह शिव जी का भक्त जरूर था और वह बुरे लोगों में भला आदमी था रामचन्द्र जी ने रामेश्वर में पुल बाँधा था।

वास्तविकता यह है कि वह एक ज्वालामुखी का विस्फोट था, जो

वहाँ बहुत दिनों से छिपी पड़ी थी यह उसका अन्तिम विस्फोट था जिसके बाद वह बुझ गई। जब रामचन्द्र जी जंगल गए थे तो वह पुल बहुत कुछ पहले से ही बना था, पत्थरों और लावे पर कुछ पत्थर की पट्टियाँ रखने की आवश्यकता थी जो काम राम की सेना द्वारा पूरा हुआ।

—एक अभ्यासी के पत्र से उद्धृत

॥ उद्बोधन ॥

(श्रीमती कान्ति श्रीवास्तव)

सखे, यह दार्शनिकों का देश !
स्वर्गादीप गरीयसी धरती का शुचि श्यामल वेश !!
यहाँ गुञ्जरित वेद—मंत्र—स्वर,गुरु—गीता—संदेश,
धर्म काय अमिताभ बुद्ध ने देखा दुःख—अशेष !!
गौतम-कपिल-कणाद--पतञ्जलि-जैमिनि--व्यास-सुरेश--
शङ्कर-श्री चैतन्य - मध्य - रामानुज - विरचित देश !!
परमहंस, अरविन्द, विवेकानन्द, 'राम' सविशेष
बजा रहे फिर उद्बोधक स्वर, जागो भारत देश !!

"साधना में प्रेम और सुरति का महत्व"

(श्री दुर्गा शंकर अवस्थी)

(गताँक से आगे)

क्या खूब कहा है:—

इश्क के रुतबे के आगे आसमाँ भी पस्त है।
सर झुकाया है फरिश्तों ने बशर के सामने ॥

अर्थ—इश्क की डिग्री के सामने आसमान के निवासियों को भी हारी मान कर इन्सान के सामने झुकना पड़ता है।
कबीर दास जी कहते है:—

पच संगी पिउ पिउ करैं, छठा जो सुमिरै मन।
आई सूति कबीर की, पाया राम रतन ॥

अर्थ—जब पाँचों ज्ञान इन्द्रियाँ व छठा मन सभी स्मरण करने लगते हैं तब कहीं राम रत्न मिलता है।

विरह की हालत पैदा होने पर कुछ अलौकिक ही गति उत्पन्न हो जाती है, कि:—

आँखड़ियाँ झाँई पड़ी, पंथ निहारि निहारि।
जीभड़ियाँ छाला पड़े, राम पुकारि पुकारि ॥

कितना इंतजार, परिश्रम व प्रेम भरा हुआ है।

सपने में साईं मिला, सोवत लिया लगाय ।
आंख न खोलूं डर इहै, मति सपना हो जाय ॥

सपने में प्रियतम को लिपट जाते हैं; और स्वप्न की चेतना आने पर इस डर से आँख नहीं खोलते कि यह मिलन भी सपना हो जायगा ।

कबिरा प्याला प्रेम का, अन्तर लिया लगाय ।
रोम रोम में रमि रहा, और अमल क्या खाय ॥

कबीर दास जी कहते हैं कि प्रेम का प्याला दिल में भर लिया है रोम रोम उसका स्मरण कर रहा है अब और अभ्यास क्या किया जाये । वास्तव में प्रेम की गति की महत्ता भी यही है कि अभ्यास अभ्यास न रह कर प्रेम ही बन कर उर में झलक उठे । वह तो कहता है :—

कै बिरहिन को मीचु दै, कै आपा देखलाय ।
आठ पहर का दाँझना, मो पै सहा न जाय ॥

हे प्रियतम इस विरही को मृत्यु दो अथवा दर्शन दो। आठों पहर का जलना अब मुझसे सहा नहीं जाता ।

हमारे श्री रामचन्द्र मिशन की आराधना भी इन्हीं नियमों पर आधारित है । हमारी दैनिक प्रार्थना की प्रथम पंक्ति है,

"हे नाथ तू ही मनुष्य जीवन का ध्येय है"

वास्तव में हमारा ध्येय सहज सुरति एवं प्रेम द्वारा ईश्वर प्राप्ति ही है । बार बार स्मरण करने से प्रेम का अंकुर हृदय मे जमता है जो धीरे धीरे बढ़ कर विरह का रूप ले लेता है । जब विरह अपनी चरम सीमा पर पहुँचता है तब ईश्वर की प्राप्ति होती है और इस स्थिति में स्थायी भाव भी आता है । प्रेमी याद करते करते अपने को

भूल कर सर्वथा मालिक में लय हो जाता है यही "उसकी" प्राप्ति है । क्या सुन्दर कहा है:—

न पा सकते जिसे पाबन्द रह कर कैदे हस्ती में ।
सो हमने वे निशाँ हो कर तुझे ओ बे निशाँ पाया ॥

अपनी हस्ती न रहने पर ही ईश्वर प्राप्ति होती है । वहाँ अस्तित्व कीबन्दिश नहीं रहती—जानने वाले का वहाँ आस्तित्व ही नहीं रह जाता—यही कारण है कि ईश्वर का अनुभव हो सकता है उसको जाना नहीं जा सकता । मिलन के बाद की हालत के लिये संत कबीर कहते हैं—

प्रियतम को पतियाँ लिखूं जो कहूँ होय विदेश ।
तन में, मन में, नयन में, वाको कहाँ संदेश ॥

जिस प्रियतम की राह देखते २ परेशान थे व जिसके विरह में जल रहे थे उसी प्रियतम के वास्ते कहते हैं कि यदि प्रियतम विदेश में कहीं होता तो उसको पत्र लिखकर संदेश भेजता । वह तो तन में मन में आँखों में रमा हुआ अनुभव होता है उसको संदेश कहाँ भेजें ।

ऐसी हालत तक पहुँचने के वास्ते आवश्यक है कि इच्छाओं से स्थायी तौर पर उत्कृष्ट प्रेम के द्वारा छुटकारा पाया जावे । हमारी प्रार्थना की दूसरी पंक्ति है:—

"हमारी इच्छायें हमारी उन्नति में बाधक हैं"

उत्कृष्ट प्रेम की हालत आने पर ये इच्छायें जो पूजा में बैठने पर खास तौर से घेरती हैं स्वयं छूट जाती हैं । ज्यों ज्यों सतत स्मरण करने का अभ्यास बढ़ता है, इनको खुराक मिलना बन्द हो जाती है और ये क्षीण होने लगती हैं, हमारी नज़र अपने एकमात्र मालिक पर ही ठहर जाती है और हम उसी में मस्त रहने लगते हैं । हमारी प्रार्थना की तीसरी पंक्ति है:—

"तू ही हमारा एकमात्र स्वामी एवं इष्ट है,"

केवल अपने प्रयत्न से ही मन का निग्रह एवं मालिक पर स्थायी तौर से नजर पाना असम्भव है, इसके लिये तो हमें सद्गुरु की शरण ग्रहण करनी होगी प्रार्थना की अन्तिम पंक्ती है ।।

"तेरी सहायता बिना तेरी प्राप्ति असम्भव है"

अनन्त की ओर जाने के वास्ते हमें किसी ऐसे ही पथप्रदर्शक महापुरुष को टटोल कर उसका दामन पकड़ना आवश्यक है जो सही राह जानता हो और अपनी पावन प्राणशक्ति द्वारा हमें भटकने से बचावे व बाधाओं को हटाकर हमें ऊपर उठाता चले। किसी ने कहा है:—

खुदा का घर बनाना हो, तो नक़शा ले किसी दिल का ।
ये दीवारों की क्या तज़वीज़ है, ज़ाहिद ये छत कैसी ॥

यदि मन्दिर बनाना चाहते हो तो ऐसे दिल को तलाश करके उसका नक्शा लो जहाँ खुदा की इबादत होती हो और अपने दिल को भी वैसा ही इबादतगाह बनाओ, दीवार व छतों के बनवाने की क्या बात करते हो। इन्सान को प्रेरणा पाने के वास्ते इन्सान हो के सम्पर्क की आवश्यकता है पुस्तकों से भी आज तक किसी का काम नहीं बना। सुन्दर कहा:—

पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुआ, पंडित हुआ न कोय ।
ढाई अक्षर प्रेम का, पढ़ै सो पंडित होय ॥

अलजबरा में हमने पढ़ा कि यदि अ=ब के है और ब=स के है तो अ स के बराबर होगा उसी आधार पर यदि किसी महापुरुष ने सचमुच ईश्वर में समता प्राप्त कर ली है और हम उसकी उपासना करते हैं तो वह भी निस्संदेह उसी मालिक की ही आराधना होगी

भगवान कृष्ण ने भी अर्जुन के प्रति यही बताया था। वे हमें ईश्वर की उपासना का उपदेश देते हैं और जब अर्जुन कुछ नहीं बोलता, खामोश रहता है—तब कहते हैं

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी माम नमस्कुरु ।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोसि मे ॥

अर्थ—केवल मेरे में मन वाला, मेरे को भजने वाला, मेरी यज्ञ करने वाला बन, व मुझे नमस्कार कर, तू मेरे को ही प्राप्त होगा। मैं सत्य कहता हूँ क्यों कि तू मेरा प्रिय है। ऐसी आत्माओं का सम्पर्क भाग्य व पुण्य फल से ही मिलता है। स्थूलता के पुजारी बहुत मिलेंगे, ईश्वर के नहीं।

अब प्रश्न है कि ऐसे महात्मा को पहचाना कैसे जाये? इस विषय में केवल इतना कहना पर्याप्त है कि जिसके पास बैठने पर मन व दिल को सुख एवं शान्ति का अनुभव हो उसका ही दामन पकड़ ले। यह भी कहा है कि,—

"It Is through beauty that the Divine manifests in the physical, in the mental through knowledge, in the vital through power, and in the psychic trough love."

ईश्वर भौतिक पदार्थों में सुन्दरता के द्वारा, मन में ज्ञान के द्वारा, जीवनी में शक्ति के द्वारा, व अतिमानसिक में प्रेम के द्वारा दिखाई पड़ता है।

"To love truly the Divine we must rise above attachments."

ईश्वर से सच्ची तौर से प्रेम करने के लिए हमें रागों से ऊपर उठना होगा।

"To become conscious of the Divine love all other love must be abandoned".

ईश्वरी प्रेम के अनुभव करने के वास्ते हमें सभी के प्रति आसक्ती छोड़ना होगा। सबसे अच्छा है कि ईश्वर प्राप्ति के वास्ते हम केवल ईश्वर को ही पकड़ लें।

मनुष्य मात्र का पुनीत कर्तव्य है कि ऐसे महात्मा को अपना सब कुछ यानी जिसके वास्ते ही हमें सब चीज़ें प्रिय हैं– दे देवें। श्रद्धेय लाला जी जिनका जन्मोत्सव मनाने को हम सब यहां एकत्र हुए हैं उनकी कृपा से, हम लोगों के भाग्य से, एवं प्राणी मात्र के कल्याण हेतु आज भी ऐसा महान व्यक्तित्व हमारे बीच में विद्यमान है। यदि हम रोशनी नहीं लेते हैं तो सदियों तक पछताना पड़ेगा और ऐसा अवसर न मिलेगा।

हज़ारों साल नरगिस अपनी बे नूरी पे रोती है।
बड़ी मुश्किल से होता है चमन मे दीदावर पैदा॥

वे स्वयं तो अपनी सारी कमाई देने को परेशान हैं परन्तु दुर्भाग्य है कि हम अपने हृदय को खाली बर्तन बना पाने में देरी कर रहे हैं।

समाप्त

मानवता ही ईश्वर प्राप्ति का साधन है।

(कुमारी पुष्पा रानी सक्सेना)

मानव का जन्म मनु से है, जब कि मानवता शुद्ध सात्विक भावों से उत्पन्न होती है। मानवता और मानव-धर्म के अभाव में मनुष्य को मानव न कह कर दानव कहना अत्यन्त उपयुक्त होगा।

मानव जाति अपूर्व विलक्षणताओं से ओत-प्रोत है, जब कि अन्य जीवधारियों में इसका अभाव पाया जाता है। हमारे सन्त महात्माओं ने भी इस मानव-शरीर को अत्यन्त दुर्लभ बताया है क्यों कि यह चौरासी लाख योनियों से परे है।

मानवता ही मनुष्य के लिये सिद्धि द्वार है जिसके सहारे ही वह सफलता को प्राप्त कर सकता है, क्योंकि मानवता के अभाव में सफलता भी असंभव है। सफलता की दृष्टि से हमें जीवन का वास्तविक मूल्य समझना चाहिये और उसी के सहारे हमें आचरण करना चाहिये। मानवता वहीं निवास करती है जहाँ द्वेषरहित सहृदयता का विस्तृत साम्राज्य है।

मानव ही सृष्टि का श्रृंगार है जिसके अन्दर एक दिव्य ज्योति का जन्म होता है। यही दिव्य ज्योति मनुष्य को निम्न स्तर से ऊपर उठाकर सत्कर्मों की ओर प्रेरित करती है। इसी दिव्य ज्योति का नाम विवेक है।

जब मनुष्य में शुद्ध भावों एवं मानवता का आविर्भाव होने लगता है तब उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचाने वाले काम क्रोधादि अपने मोहक रूप को त्याग कर भागने लगते हैं। ऐसा दैवी-विधान है। इस प्रकार से विवेक की विजय हो जाती है। इसी प्रकार से

जब मनुष्य में पशुता आ जाती है, तब वह सम्पूर्ण ज्ञान को भूल कर इन्द्रियों का दास हो जाता है और मदमस्त गज की तरह पागल हो कर वासनाओं की ओर दौड़ने लगता है। अब हमें देखना चाहिए कि मानवता का तथा पशुता का क्या अर्थ है? इस प्रकार से हम देखते हैं कि मानवता का अर्थ वासना के ऊपर विवेक की विजय है, जब कि पशुता का अर्थ है विवेक के ऊपर वासना की विजय। मानव के अन्दर छिपी हुई शुद्ध आत्मा पशुता का बध करके मानवता को ऊपर उठाने का प्रयास करती है। जब कि पशुता शुद्ध सात्विक भावों का हनन करके मनुष्य को पतन के गर्त में ढकेलने का प्रयास किया करती है। क्योंकि यह दोनों एक दूसरे की कट्टर विरोधिनी है।

भगवान ने मनुष्य को स्वभाव से ही सहृदय, प्रेमी एवं विवेकी बनाया है। मनुष्य प्रेम-भाव से ही एक दूसरे की ओर आकृष्ट हुआ करते हैं। मानव ही नहीं पशु-पक्षी भी प्रेमाधीन होते हैं। जिस तरह से नवजात वत्स (बछड़ा) अपनी माता गौ की ओर लपकता है और वह भी उत्पन्न प्रेम में विह्वल होकर एवं उत्सुकता वश उसकी ओर लपकती है।

मानव वही कहा जा सकता है जो कि प्राणीमात्र के प्रति किसी प्रकार का द्वेष नहीं रखता तथा जिसका हृदय सदैव शुद्ध एवं कोमल भावनाओं से ओत प्रोत रहता है।

कुछ भी नहीं बाकी रही अपने पराये की तमीज़,
इस सराये बेखुदी में कोई बेगाना नहीं।

मानवता से ओत—प्रोत होने पर ही मनुष्य पूर्ण मानव कहा जा सकता है तथा देवाधि देव बनने में समर्थ हो सकता है। विश्व-चेतनता विश्वात्मा के अन्दर अन्दर की चेतनता का स्पर्श कर लेती है तभी वह विराट स्वरूप धारण कर लेता है तथा सच्चिदानंद हो

जाता है। बाइबिल में कहा है—'God created man in his own image अर्थात् ईश्वर ने मनुष्य को अपने ही रूप में पैदा किया है। लेकिन इतना सब होने पर भी मनोविकारों, इच्छाओं और वासनाओं का दमन किये बिना मानव सच्चा मानव नहीं बन सकता। परन्तु हमारी अनन्त इच्छाओं का अन्त ही कहाँ है। कविवर श्री गालिब जी का कथन है।

हजारों ख्वाहिशें ऐसी कि हर ख्वाहिश पे दम निकले।
बहुत निकले मेरे अरमान लेकिन फिर भी कम निकले॥

मानव का सच्चा स्वार्थ भगवत् प्रेम में ही होना चाहिये। उस सर्व शक्तिमान परमेश्वर से विमुख होकर तो ब्रह्मा का पद पाना भी निन्दनीय है प्रशंसनीय नहीं। भगवद्भक्ति का सुख सभी सुखों से श्रेष्ठ है। मनुष्य जब सर्पिणी रूपी माया को एक शंकर के पैरों से कुचल कर फेंक देगा, तभी वह मानवता को पूर्ण रूप से प्राप्त करने में समर्थ हो सकेगा। जिस प्रकार से कमल जल का भेद न कर उससे अछूता निकल आता है, उसी प्रकार से शुद्ध भाव से भक्ति करने वाला मानव सांसारिक कठिनाइयों को जीत कर ईश्वर की प्राप्ति कर लेता है। यही जीवन की पूर्ण सफलता है।

निर्लिप्त भाव से भगवद्भक्ति रखने वाले मानव का जीवन पूर्णतः निर्भय हो जाता है। उसके लिए हानि-लाभ, जीवन-मरण, सुख-दुख, जय-पराजय सभी बराबर होजाते हैं।

फंना कैसी बक़ा कैसी, जब उसके आशना ठहरे।
कभी इस घर में आ निकले, कभी उस घर में जा ठहरे॥

मानव शरीर क्षण भंगुर है। शरीर ही क्या, संसार की सभी वस्तुएं क्षण भंगुर एवं अस्थिर हैं। मृत्यु चौबीसों घंटे सर पर नाचा करती

है । फिर ऐसे क्षणिक संसार में ईश्वर से भी प्रेम रखना मानव का परम कर्त्तव्य होना चाहिए ।

मानव शरीर की प्राप्ति दुर्लभ है । बार २ इस नरदेह की प्राप्ति नहीं होती । ईश्वर प्रेम ही मनुष्य की मर्यादा की दीवारों में बाँधे रखता है ।

मानव के हृदय में भक्ति रुपी सूर्योदय के होते ही सभी मनोविकार, कामनाएँ अंधकार में जा छिपते हैं अर्थात् सभी मानवोचित दुर्गुण अनायास ही हमसे दूर हो जाते हैं, तथा हमारे हृदय में सद्गुणों का आविर्भाव होने लगता है, एवं हमारी विरोधवृत्ति मिट जाती है ।

इस प्रकार से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मानव जीवन की सार्थकता तभी है जब वह घट-घट व्यापी भगवान की शरण ग्रहण करे । जब तक मनुष्य कामनाओं का दास बन कर रहेगा तब तक वह जगत्पति का अर्थात् भगवान का नहीं हो सकता । मानव जीवन का वास्तविक लक्ष्य ईश्वर प्राप्ति ही है ।

मनुष्य चाहे कितना ही प्रयत्न करे किन्तु ईश्वर-प्राप्ति दुर्लभ ही नहीं वरन् असंभव सी दीख पड़ती है । संसार के प्राणियों का ऐसा है । इसके लिये यह बहुत आवश्यक है कि हम ऐसे सद्गुरु की शरण में जाएँ जो अध्यात्म-विद्या में पूर्णतः निपुण हो तथा ईश्वर में पूर्ण रूप से लय होचुका हो । ऐसे ही सद्गुरु हमें मानव बनाने की शक्ति रखते हैं । एवं हमें उनके बताये हुए मार्ग पर चलने से ही लक्ष्य की प्राप्ति हो सकती है ।

मेरा समस्त मानव जाति से यही विनम्र निवेदन है कि वह अपने जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ ही में व्यतीत न करके अपने

वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति हेतु, जो ईश्वर-प्राप्ति के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता, किसी सद्गुरु की खोज में लग जाएँ और उनके बताये हुये साधनों को पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ अपनाएं ।

अन्त में मैं परम आदर्णीय व श्रद्धेय श्री बाबूजी से प्रार्थना करूंगी कि वह अपने बताए हुए सद्मार्ग पर चलने वाले उत्सुक प्राणियों को सहज-मार्ग दिखलायें, और सद्गुरु की खोज हेतु उनकी बुद्धि निर्मल करें । तथा अपनी इस क्षुद्र और अबोध बालिका को अपनी गोद में लेकर मातृवत् लालन पालन करें ।

❀ ❀ ❀ ❀

महात्मा बुद्ध से उनके एक शिष्य ने धर्म-प्रचार के लिए देश, विदेश घूमने की आज्ञा माँगी ।

महात्मा बुद्ध ने उसकी परीक्षा लेने के लए कहा कि जहाँ कहीं तुम अपनी बात कहने पहुँचोगे, वहाँ लोग सम्भव है तुम्हें बहुत बुरा भला कहें ।

शिष्य ने उत्तर दिया कि ऐसे लोग उसे भले ही लगेंगे, क्यों कि उन्होंने डंडे नहीं मारे ।

बुद्ध जी ने कहा, कि कहीं कहीं लोग ऐसे भी मिलेंगे जो डंडे से मारेंगे ।

शिष्य ने उत्तर दिया कि ऐसे लोग भी उसे भले ही लगेंगे क्यों कि उन्होंने उसे जीवित छोड़ दिया ।

महात्मा बुद्ध ने फिर कहा कि कोई ऐसा भी मिल सकता है, जो जान से ही मार डाले ।

शिष्य ने उत्तर दिया कि ऐसा भी व्यक्ति उसे भला ही लगेगा क्योंकि उस ने दुःख-रूप जीवन को समाप्त कर के बहुत सी जिम्मेदारी अपने ऊपर ले ली । मुझ पर तो उसने एहसान ही किया ।

तब महात्मा बुद्ध ने क्षमाशीलता और निरुद्विग्नता में उसे सम्यक् रूप से स्थित पा कर सहर्ष देश-विदेश-पर्यटन की आज्ञा प्रदान की । ❀❀❀

मिट्टी के प्रयोग

(काशीराम अग्रवाल)

मनुष्य---शरीर पंच तत्वों से बना है। पृथ्वी, पानी, आकाश, आग, हवा। मिटटी में पाँचों तत्व वर्तमान हैं। संसार की हर वस्तु मिट्टी से उत्पन्न होती है और मिट्टी में ही मिल जाती है। मिटटी में रोगों को जड़ से खो देने की शक्ति मौजूद है। अगर मिटटी को अपने रोगों पर आज़माया जाय तो लोग शुरू में अपने भयानक रोगों का इलाज स्वयं घर में बग़ैर परेशानी के कर सकते हैं। औषधियाँ तो खरीदनी और कूटनी पीसनी पड़नी है, खर्च भी दवाओं में अधिक होता है और डाक्टरों के हाथ का खिलौना भी बना रहना पड़ता है, फिर भी रोग जड़ से नहीं जाते। हर व्यक्ति मिट्टी का प्रयोग करके आश्चर्यजनक लाभ उठा सकता है।

मैंने अनेकों रोगों पर मिट्टी का प्रयोग किया है, और मुझे याद नहीं आता कि किसी को लाभ न पहुँचा हो। मेरे हाथ में बन्दर ने काट लिया था, चार दाँत गहरे लगे थे। खून एवं माँस तक निकल आया था, तुरन्त मिट्टी बाँध ली, एक सप्ताह में बिल्कुल ठीक हो गया। मेरे पैर का घाव जो महीनों से ठीक नहीं हो रहा था मिट्टी के प्रयोग से ठीक हुआ तथा कई अन्य व्यक्तियों के घावों पर भी मिट्टी बाँधी जो शीघ्र ही ठीक हो गये। मेरी बहिन के आँखों में जलन, दर्द, लाली रहती थी। पेन्सिलीन मलहम एवं अन्य दवाइयाँ डालने पर भी आराम न हुआ। मेरे कहने से आँखों पर मिटटी बाँधी और दो तीन दिन में स्थायी लाभ हुआ। मिट्टी पट्टी पेड़ के निचले भाग पर बाँधने से उबकियाँ तुरन्त बंद

हो गईं। पेट को ऐंठन में भी लाभ हुआ और आँव, दस्त, पेचिश के रोगों में आश्चर्यजनक लाभ हुआ। दो बच्चे जो छोटा १ वर्ष का था बड़ा ३-४ वर्ष का, दस्त, उलटियाँ हो रही थीं डाक्टरों की दवाओं से लाभ न हुआ, मिट्टी के प्रयोग से लाभ हुआ। एक ठाकुर साहब जो दवाओं से ठीक न हुए दिन रात में ५०-६० दस्त होते थे। सुबह-शाम दोनों समय मिट्टी पेडू पर बाँधी और १५-२० दिन में जो एक लटाँक मज़ा भी हज़म न होता था अन्न हजम होने लगा और दस्त बन्द हो गए। पुराने दाद खाज के रोगियों पर मिटटी पट्टी बाँधी और भोजन में नमक छुड़ाया गया उन्हें लाभ हुआ। १० वर्ष पुराने पेट दर्द के रोगी को मिट्टी प्रयोग से लाभ हुआ। आज एक वर्ष हो गया दर्द वापस न आया। एक व्यक्ति की आँखों में अचानक दर्द व जलन हुई और आंखों की रोशनी चली गई थी। उन्हें प्राकृतिक-चिकित्सा पर विश्वास था, कहने पर आँखों में मिट्टी पट्टी लगा ली। मिटटी लगाने के तुरन्त बाद दर्द व जलन चली गई और २-३ घन्टे बाद रोशनी वापस आ गई। मैंने नाना प्रकार के रोगियों पर आरोग्य मन्दिर गोरखपुर में दो महीनों मिट्टी प्रयोग से आश्चर्यजनक लाभ होते देखा, जिन में एक एक्जिमा का रोगी जिसे साथ फीलपाँव भी था। उसका एक पैर बहुत दूरी तक से सड़ गया था, पाँव बहुत अधिक फूल गया था पटना में वह ऑपरेशन भी करा चुका था, परन्तु लाभ न हुआ। मुझे आशा न थी कि यह रोगी प्राकृतिक चिकित्सा से ठीक हो जायगा। उस के पैर में मिट्टी बाँधी जाती, पेटके निचले भाग पर भी मिटटी-पट्टी बाँधी जाती। खाने को केवल गाजर दी गई। २०-२५ दिनमें एक्जिमा ठीक हो गया। सूजन चली गई, सही खाल, पीब आदि मिट्टी ने सोख लिया और नई खाल खाल आ गई। एक महीने में पैर बिलकुल ठीक हो गया, सूजन सब चली गई।

मिट्टी को रोगों पर प्रयोग करने के बाद इस नतीजे पर आया,

और कह सकता हूँ कि हर प्रकार के बुखारों पर, दाद, खाज, एक्जिमा आदि चर्म रोगों पर, पेट में ऐंठन एवं दर्द, बाहर की तथा आँतों की अन्दर की सूजन पर, आँखों के दुखने पर या दर्द, जलन होने पर, सर दर्द, गले में दर्द, छाती में दर्द, हाथ-पैरों के तलुओं की जलन एवं सूजन आदि अनेकों रोगों पर मिटटी के प्रयोग से आश्चर्यजनक लाभ होता है। पित्त-रोग में मिटटी पूरे शरीर में लगाई, लाभ हुआ।

मिटटी चिकनी मुलायम रेशम जैसी होनी चाहिये। काली या पीली मिटटी को कूछ-छान लेना चाहिये ताकि उस में कँकड़ आदि न रह जाँय। रोग के स्थान पर आटे की भाँति ठंडे पानी में गूंध कर एक इञ्च मोटी रोटी बना कर एक घन्टे के लिए रखना चाहिए। पेट के निचले भाग पर ६ इन्च लम्बी ३-४ इन्च चौड़ी ३-४ चौड़ी आध इन्च मोटी रोटी की भाँति बना कर नाभि के एक घन्टे के लिये रखना चाहिये। दर्द, जलन, सूजन या बुखारों में आध—आध घन्टे की पटटी कई बार दी जा सकती है। फोड़े, फुन्सी एवं घावों पर मिटटी बाँधने के बाद ठंडे पानी से धो लेना चाहिए और गोले का तेल मक्खियों से बचाव के लिये लगा लेना चाहिये। पेट पर खाना खाने के तुरन्त बाद मिटटी—पटटी नहीं रखना चाहिये क्यों कि पाचन क्रिया रुक जाने की सम्भावना रहती है। खाना खाने के ३—४ घन्टे बाद या खाना खाने के १ घन्टा पहले लेनी चाहिये। अन्य स्थानों पर कोई पाबन्दी नहीं है, चाहे जब लगा सकते हैं।

धर्म और अध्यात्म

(सुरेशचन्द्र श्रीवास्तव)

सोचने की बात है—हम धार्मिक हैं या आध्यात्मिक ?

क्या आपने सोचा है कि ये दोनों शब्द आजकल की भाषा से डूबते चले जाते हैं ? —'मैं धार्मिक हूँ—' गर्व और विश्वास से तो क्या, ऊपरी तौर से भी कहने वाले कितने हैं ? इसके विपरीत—'मुझे धर्म से कोई वास्ता नहीं—'कहकर गर्व से छाती फुलाकर चलने वाले प्रगतिशील नौजवान गली गली मिल जायेंगे।

जब बेचारे धर्म की यह हालत है तो अध्यात्म की कौन कहे।

लेकिन मैं यहाँ धर्म की महता और उसको क्यों मानना चाहिये इस पर विचार नहीं करने बैठा हूँ। मैं केवल उन लोगों से दो शब्द कहना चाहता हूँ जिन्होंने धर्म को, धार्मिकता को अपनाया है, जिन्होंने प्रगतिशीलता की बुरशर्ट नहीं पहनी है।

मैं फिर पूछता हूं—क्या आप धार्मिक हैं या आध्यात्मिक ?

सोचने की बात है ही। बिना सोचे कुछ नहीं करना चहिये हमारी मानवता इसी में है कि हम हर काम विचारपूर्वक करें, भाव पूर्वक करें। पहले विचार की कसौटी पर परख लें फिर उसको आभूषण बनाकर धारण करें। यही तो ईमानदारी है इसी में शक्ति है। और ज्ञान का पंथ भी तो यही है। हो सकता है कि यह कृपाण

की धारा हो किन्तु वह जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है उसे इस राह से गये बिना पाया कैसे जायगा। उस रास्ते पर कोई साथी नहीं और रास्ते में फिसलन इतनी कि हर क्षण गिरने का भय—'सकी गैल. राह रपटीली पाँव नहीं ठहराय।' हम विचार करें, परखें और जो सत्य हमारी तुला पर सही उतरे उसे फिर अपनाने में देरी नहीं करनी चहिए। यही विधि है। किन्तु यदि पहले हम किसी चीज़ को अपनायें और फिर उसकी सत्यता या असत्यता परखें तो गलत हो जायगा, हम धोखा खायेंगे, और बाजार चलते समय माँ ने जो थोड़ा सा समय का धन गाँठ में बाँध दिया था वह खो जायगा या व्यर्थ हो जायगा। परखने की थोड़ी देर अच्छी किन्तु बाद में छोड़ना बहुत हानिप्रद है।

धर्म क्या है, अध्यात्म क्या है? इसमें उतना ही फर्क है जितना कि साक्षर और विद्वान में। धर्म जीवन की नींव है, दीवार है—अध्यात्म शिखर है। धर्म के बिना अध्यात्म टिक नहीं सकता और अध्यात्म के बिना धर्म अधूरा है। धर्म एक अत्यन्त व्यापक जीवन पद्धति है जिसमें व्यक्ति और समाज, समाज और राष्ट्र के पारस्परिक सम्बन्ध का सन्तुलन बना रहता है। साथ ही व्यक्ति के जीवन का स्वाभाविक विकास भी धर्म के द्वारा होता है। हिन्दू धर्म कोई वर्ग धर्म विशेष नहीं वरन् एक जीवन पद्धति है। धर्म के द्वारा सामाजिक व्यवस्था और आश्रम के द्वारा व्यक्ति के जीवन की व्यवस्था स्थिर की गई थी इसलिये जिससे सांसारिक या भौतिक उन्नति के साथ साथ आत्मिक उन्नति भी हो वह धर्म है—'यतो अभ्युदय निश्रेयस सिद्धिः स धर्मः।' धर्म के साथ पुरुषार्थ भी जुड़े हुये हैं—अर्थ, काम, मोक्ष। यदि ध्यानपूर्वक देखें तो सभी दुख दर्द, आपदा पुरुषार्थ-सभी सूक्ष्मता की ओर बढ़ते चले जाते हैं। केवल शारीरिक श्रम से विशुद्ध बुद्धि जीवियों की ओर, ब्रह्मचर्य के प्रगाढ़ बंधनों से सन्यास अथवा बंधनों के परम और निर्बाध की ओर और

व्यक्ति और समाज के सन्तुलन से उठते हुए सभी उत्तरदायित्वों और संस्कारों से मुक्ति की ओर चलना ही हिन्दू जीवन की परम्परा है। इसीलिए स्थूल अन्धकार से प्रकाश की ओर, उससे सूक्ष्म असत्य से सत्य की ओर, और उससे सूक्ष्म मृत्यु से अमृत की ओर चलने का शाश्वत सन्देश उपनिषदों में दिया गया है।

अध्यात्म इसी सूक्ष्म की ओर बढ़ने का उपाय है। जो वस्तु जितनी ही सूक्ष्म होगी उतनी ही व्यापक और शक्तिपूर्ण होगी। सहज मार्ग में इसीलिये परमतत्व को शून्य या जीरो की संज्ञा दी गई है। आध्यात्मिक वह व्यक्ति है जिसने अपने ध्येय को—उस परम सूक्ष्म की प्राप्ति को भली भाँति समझ लिया है और उस राह पर बढ़ चला है। धर्म तो देश और काल के बंधनों से सीमित होता है। विभिन्न देश और विभिन्न काल में धर्म के रूप भी भिन्न २ होते हैं किन्तु अध्यात्म का रूप वही रहता है। अध्यात्म मार्ग के पथिक को धर्म के बंधन साँप की केंचुल की भाँति छोड़ देते हैं। फिर वह न हिन्दू रहता है और न मुसलमान, न यहूदी और न ईसाई। वह एक साधक मात्र रह जाता है जिसका उद्देश्य अपने आराध्य की प्राप्ति ही रह जाता है। वह आराध्य ही उसके हृदय में रहता है और प्रेम की लहरें उसके व्यक्तित्व में उछलने लगती हैं। फिर वह कहीं नहीं रह जाता है 'न उसकी कोई आरजू ही रह जाती है। रह जाता है बस एक मालिक और उसकी रज़ा। तब साधक स्वयं अपना सिर काट कर भूमि पर रख देने को तैयार हो जाता है और तभी सँकरी प्रेम गली में बने हुए घर में 'पैठ' सकता है।

यही ज्ञान है, यही भक्ति है। बिना ज्ञान के भक्ति अंधी होती है। ज्ञान का मार्ग कठिन है—कृपाण की धार जो है। किन्तु असाधारणव्रतगामी व्यक्ति ही तो उस परम तत्व की खोज कर सकता है जो छोटे से छोटा और बड़े से बड़ा है। इसके लिये बड़ी तैयारियों की आवश्यकता चाहिये। कम से कम सर्वस्व की बाजी लगा देने की तत्परता तो चाहिए ही।

अफसोस है कि हमारे धर्मगुरुओं ने अध्यात्म को बड़ी सस्ती सी चीज बना डाला। उन्होंने प्रचार और यश के लोभ में न असलियत समझी और न समझाई क्योंकि उसमें प्रयत्न करना पड़ता है, साधना करनी पड़ती है और सर्वस्व की बाजी लगा देनी पड़ती है। सरल व्यक्तियों की भोली भावनाओं को उभाड़कर और उनको फुसलाकर वह एक सब्जबाग खड़ा कर देते हैं जिसमें साधारण लोग अपने को भूल सा जाते हैं और अपने को धार्मिक या आध्यात्मिक समझने लगते हैं। एक भद्दी और अपूर्ण दुनिया के सामने स्वर्ग की तृप्ति और सुखपूर्णता, अपूर्ण मनुष्य के सामने परिपूर्ण सुन्दर और शक्तिपूर्ण व्यक्ति अथवा देवता का चित्र किसे मुग्ध न कर लेगा ? किन्तु इसका परिणाम लोहे की जंजीरों से छुटकर सोने की जंजीरों में बंधना मात्र है। बंधन ज्यों के त्यों हैं। भक्ति के नाम पर हमारे रँगीन धर्मगुरू कोरी भावुकता का प्रचार करते रहे हैं और जनता को भूलभुलैया में डालकर उसको तेली के बैल की तरह घुमाया करते हैं। अविद्या में ऐसे पड़े हुए अन्धे व्यक्ति स्वयं को बड़ा पंडित मानते हैं और जब वे जनता को राह दिखलाने का दावा करते हैं तो लगता है कि कोई अन्धा अन्धे को रास्ता दिखला रहा है—

अविद्यायामन्तरे वर्तमानाः स्वयंमन्धाः पण्डितम्मन्यमानाः
दन्द्रम्यमाणाः पर्यन्ति मूढाः अन्धनैव नीयमानाः यथान्धाः ।

धर्म तो वह दोनों किनारे हैं जिनके बीच में जिन्दगी की नदी परम तत्व से मिलने के लिए हर घड़ी दौड़ी चली जा रही है। नदी का एक एक बूंद समुद्र से मिलने को व्याकुल है। जब तक उसमें पूरी तौर से वह लीन नहीं हो जाता तब तक स्थिरता है न शान्ति। वहाँ न कोई किनारा है, न सीमा। अध्यात्म इस महा मिलन की प्राप्ति का उपाय है। धर्म हमको लक्ष्य के लिए रास्ता तो बतला देता है जैसे दसवीं कक्षा की परीक्षा विद्यार्थी को इस योग्य तो बना देती है कि वह कालेज का छात्र हो सके किन्तु बालक जब तक कालेज में प्रवेश न करे तब तक वह कालेज का विद्यार्थी नहीं कहला सकता इसीलिए व्यक्ति धर्म का पालन करते हुये भी अध्यात्म के रास्ते पर नहीं बढ़ पाते और बैल की तरह निरन्तर चलते रहने पर भी कोल्हू से उतनी ही दूरी पर रहते हैं जितनी दूरी से प्रारम्भ किया था।

आजकल हमारे गेरुये धर्मगुरु हमको उसी मंजिल तक पहुँचा सकते हैं जिस मंजिल तक खुद पहुँच चुके हैं। काश, कि वे स्वयं किसी मंजिल तक पहुँचे होते !! भक्ति के नाम पर वे जिन्दगी के प्रति और आसक्त हो जाते हैं और हमारी प्रवृत्तियों को ऊपर उठाने के बजाय और भी कीचड़ में सान देते हैं। क्या वे सूक्ष्मता की ओर बढ़ते हैं ? क्या उनके या उनके मानने वालों में उसकी कोई कल्पना जग पाती है जिसके भय से सूर्य तपता है, अग्नि जलती है और वायु सभी दिशाओं में दौड़ती रहती है, जिसके सहस्त्रों बाहु, उदर मुख और नेत्र हैं और सबके ऊपर जो अवर्णनीय है, जिस में व्याप्त सब है और जो सब में व्याप्त है। ऐसे अणु से भी छोटे और महान से भी बड़े शक्ति केन्द्र से हम एक हो जाएं—यह भावना क्या जग पाती है ? मगर खेद के साथ कहना पड़ता है कि ज्यों ज्यों धर्म गुरुओं की आवाज फैलती गई, तलवारों और भालों की खनखनाहट के साथ साथ घंटी की आवाज बढ़ती गई और उसमें अध्यात्म की मीठी रागिनी सुनाई नहीं पड़ने लगी। यहाँ तक की शोर गुल ही अध्यात्म का नाम ले बैठा।

लेकिन भाई अब समय ने करवट ले ली है। बादल कब तक सूरज को ढके रख सकते हैं। सहज मार्ग की हवा ने बादलों की तहें फाड़ दी हैं और सत्य का सूरज चमकने लगा है। लगातार अँधेरे में रहने के कारण हो सकता है, हम उसे पूरी तरह न देख सकें किन्तु जिस दिन हमारी आत्मा वह प्रकाश का गीत सुन पाएगी उस दिन उसे आगे बढ़ने से कोई नहीं रोक सकेगा। खिले

हुए गुलाब की खुशबू को कौन रोक पाएगा। उसके आकर्षण से, सिवाय उन लोगों के जो अपने सूंघने की शक्ति खो बैठे हैं, और कौन बच पाएगा। हमारे प्राचीन ऋषियों ने अध्यात्म का मन्दिर बनाया था वह काल की आँधी में धूल मिटटी में दब गया था किन्तु अब फिर काल की धारा पलट गयी है। वह धूल गुबार नष्ट हो गया है और अध्यात्मवाद पुनः अपना गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त कर रहा है।

इसलिए अब समय आ गया है कि हम अस्लियत समझें। केवल धूप जलाने और आरती नेवैद्य से हम अपने जीवन का अन्तिम ध्येय पूरा होते हुए न समझें। अपने जीवन का मन्दिर हम स्थूल से उठाते हुए सूक्ष्म शिखर की ओर ले जाएं और उसे इतना सूक्ष्म कर दें कि जिस दिन हमारा मिटटी का शरीर गिर जाए तो हम उस परम सूक्ष्म से उसी प्रकार मिल जाएँ जिस प्रकार कुएं में यदि मिटटी का घड़ा फूट जाय तो अन्दर और बाहर का पानी एक हो जाए। यदि हम नीति के अनुसार अपना जीवन बिताते है तो इसी में अपना कर्तव्य समाप्त हो गया न समझें। हो सकता है संसार हमें महान धार्मिक व्यक्ति कह कर हमारी पूजा करे किन्तु हमें तो उन फूलों के हारों के नीचे दब कर नहीं रह जाना है। हमारा ध्येय तो आध्यात्मिकता का जीवन बिताना है।

चार डग हमने भरे तो क्या किया।
है पड़ा मैदान कोसों का अभी॥

❀ ❀ ❀

Progress on the path of Spirituality.

(Shri Ram Chandra Ji, President S. R. C. M.)

I

A man just enters the spiritual life. Call him as 'A). How he enters ? Hearing the supremacy of a certain personality. 'A' finds 'B' as a greater personality who can weave his destiny He now begins to love 'B'. After some time passed his love becomes greater and greater. That means he hold 'B' as a supernatural being. When he improves in love, he hatches an idea in his brain holding that personality in much veneration. When this is the case 'A' treats 'B' as God and forms, on account of intense love, his image in his own heart. He does'n't want to be away from the thought for a while even. He craves the great personality in his heart. In other words, he keeps his ideal safe in his bosom. What torments him much is 'B's funny play just as a child when grows old he hides himself under the clothes of his mother and tells her to seek him.

Suppose the child's mother has no covering where the child will hide himself. 'A' is meditating towards 'B' and the covering comes in itself and the immage seems hidden. Where does this covering come from ? It is the veil of his own thought which has kept him aloof from his great master–Almighty. Suppose he does not see his master under the covering he must not feel vexatious. Why so ? Because his master named 'B' is within this covering and in him in some form or other. Suppose he does not see his master within his form he must not be perplexed. Broadly speaking, he is every where, but since he can not see his presence every where, he made him limited in his own form for the sake of concentration. If he thinks his master seated within, that completes the idea of his presence. That means he has got the idea of his Master rooted deep in his heart. Very ridiculous it is, he seeks his Master where he has given him His place. Suppose he prays his Master to be seated on the plank of his heart and if prayer is heard and replied in words spoken by his Master at his calls-'I change but I can not die', the idea will be totally correct so to say Idea should remain as it is. Form may be changed, it matters little.

Now the disciple is satisfied. He contemplates his Master and the idea remains of his presence in

his heart. I think it is sufficient. There is one philosophy underlying it. When we put a bird into the cage for the first time it begins to flap because it is not used to the cage. You put the unlimited one, into the cage of your heart. When the unlimited one, is compared as a bird for your understanding, it begins to fly with you, and then you begin, to seek its image which is only seen as long as its flight has not begun. You both fly together to leave the cage and you become one with Him. When this is the cage, I mean your flying commenced, they fly with all you have got with you.

II

If 'A' begins his work dedicating all to his Master, what good it will be, imagine, in the long run. He does every thing for his Master nay thinking that his Master is himself doing and must think because both are flying together. 'A' really speaking gave life to his supposition and the object became animate. Both have got lives now. He starts his work from today's morning. Suppose he performs his daily oblation thinking that his Master is doing all this. He breaks his fast thinking that his Master is doing the same. He goes to the office and does his office business thinking that his Master is doing the same or in other words he himself is doing. Now he returns from the office. On the way he

finds an attractive dance and his eyes go to the form already playing his part. What do you think then if you can not check your self ? Think that it is not you who is seeing the dance but your Master's eyes–the eyes you have got are witnessing the scene. What good it would be ? You will lose the curiosity of seeing the dance atonce because your Master's power will begin to flow atonce and you will be relieved of the curiosity just awakened. Now you come to the house finishing your office business. You see your childern quite joyful in seeing you as you have returned after so many hours from the office. You enjoy their merriments and it is, of course, but natural What would you do then ? Your attention is diverted towards them and you are a bit away from your sacred thought for the time being. The method would be complete if you think that your Master within is himself enjoying. You will find that its effect is no more and you are away from your own thoughts. Now another business comes. Friends come in. They chit chat. You also drop into conversation with them and that is the daily routine. Think that not you but your Master is talking with them. That is the best practice I tell you. Similarly you can adjust yourself in your daily routine and in all the work before you. If

you are walking you can, of course, think your Master at that time, but how good it would be if you do both the things together. You are thinking of your Master and at the same time also having the idea that your Master is himself walking. If you do it that means you are going with double force.

VERY GOOD IDEA–A KEY NOTE:–While you are meditating (a very important one) think that your Master is himself meditating on his own form.

If you cultivate this habit what effect there would be on you in the long run. You will not make SANSKARS any further that means the progressive thing is stopped now for the future to create BHOGA. That is the way to SALVATION. But our ideal is something higher than that. We want to release ourselves from the endless circle of rebirth which comes after. This method ultimately will lead you to nonentity. Do this and feel its effect. Very shortly it will come.

OOO

THE EVIL VEIL

(Shri Raghavendra Rao, B.Sc.,B.E.,M.I.S.E.)

हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्यापिहितं मुखम् ।
तत् त्वं पूषन्नावृणु सत्य धर्माय दृष्टये ॥ १५ ॥

—Ishopanishad

Great sages of past have declared that the ultimate cause of pain is a veil–the veil of Avidya. An individual finds himself separate from others. This separatedness or this feeling of separation is originally caused by the above mentioned veil. Due to this, the real value of oneness is lost and flase values take its place causing likes and dislikes, pleasure and pain and other similar dualities.

No doubt, it requires great courage to deny the reality of pain itself. Pain alone appears to be too real. And its denial would amount to assuming another falsehood. Blessed be the Mahayogi who asserted, "Pain is the voilent back–waters of the ocean of Ananda." When Ananda (pleasure) is the only Existence and when the everlasting Consciousness of which is considerd to be the only Purushartha or the only goal and perfection, naturally,then pain has to be considered as a perversion of

Ananda. This would have rent the veil assunder if only our consciousness had obeyed our conception.

Unfortunately this veil itself is the cause of our wishful thinking and it also is beyond our consciousness. A supramental consciousness, it may be argued, can have the cognizance of this veil. But, for us, a supramental consciousness taking supramental delight in comprehending the supramental existence will mean nothing more than a god with some more heads, hands and a huge abdomen. If the metaphysical is the only reality, transcendental yet parallel and similar to the physical, the assumption of another integrity comprising of both becomes another necessity to cause still more complexity. And if this integral whole with one more quality of immanence is not sufficient to drive one to madness, add infinity to confound! And finally, to show off, call it the indescribable (anirvachaneeya).

One begins to wonder whether it is really socomplex. There is really some sense when the king of the story exclaims, after listening to the accounts of all the learned ones about the Universe, "I would have given a simpler plan if God had consulted me". Here is a dilemma. Man feels intuitively that the Ultimate Reality is very simple. Yet at every new

finding he finds himself compelled to assume a more complicated theory to explain the fact so discovered. Thus the present theories of science are no less bewildering than those of the old alchemists. For an ordinary man the theory of relativity is as reliable as the theory of Flogiston. If the criterion for the truthfulness of any theory lies in its capacity to explain the observed phenomena and in its utility, no theory developed so far seems to be quite satisfactory. The very attitude of trying to formulate the ultimate reality out of the observed data becomes a barrier and thickens the evil veil. It will be like putting the cart before the horse.

If the scientist is concerned with finding out new sources of power, the Yogi too is no less anxious to gain mastery over the force of Nature. But the scientist is compelled to cater to the needs of his unscientific and many a time unreasonable employers whose help is absolutely essential for seientist to carry out his researches. If, for example, the scientist happens to discover that time can be converted into energy and if his observations are in conflict with the conceptions and fancies of his employers, the scientist will be liquidated and time devours him. On the other hand the Yogi is quite independent and is free to carry out his researches as he pleases. But in his case there are

other kinds of dangers which are more serious. If, for example, the Yogi gets mastery over the power of time and if he utilises it to preserve his life in his material body for thousands of years, he will be no better than a granite rock or a banyan tree. Hence in the case of attainment of power, again, the evil veil is ready to produce the reactionary impact. Either one has to tear off this evil veil or else mould himself in perfect conformity with Nature in order to get mastery over the forces of Nature and ultilise it in the right way.

There is a great controversy over the question of whether perfect freedom for the individual is necessary and more important than the complete well-being of the society of the individuals. If all social, political and economic theories aim at creating an ideal society the demand of all pure sciences is for a perfect scientist in a benevolent society and Yoga and Mysticism aim at making an individual perfect. If a perfect society means the collectivity of perfect individuals, Yoga or Mysticism seems to be the only way for the fullfilment of the dreams of socialogists, politicians, economists scientists and philosophers. But an ideal is after all an ideal. And reality does not often conform to our wishes. Death and disease are as real-nay, more bitterly real--as creation and maintenance. This mental

projection for reality is the fundamental constituent of the evil which hampers man's innate urge to attain the Ultimate.

This evil veil has been comprehended in different shades at different levels of man's evolution of thought. The Divine ray in man was supposed to have lost its way and got stranded in the darkness of the gross complexity of matter. Flesh and blood were the first victims to receive the name of evil veil. Then came the subtler bodies comprising of thoughts and ideas, desires and cravings, and struggles and strifes. When saints crossed over these obstructions they found egoism to be the only veil which is the basic factor in the evolution of the "evil veil" And when the egoism is washed off the evil, they thought, only the veil remained and there was no further approach available to man so long as he remained in the body. And at this point even Yoga and Mysticism appeared to have stagnated. The veil still remained a mystery although not evil.

Whenever necessity arises Nature sends a great personality to help mankind. In the field of Yoga and Mysticism the black-wall was coming nearer and nearer. All practices had become stereo-typed, mechanical and gross. Then a new sun appeared on the horizon of human history to lead us on the

right path. A huge tidal wave of spirituality has been observed by those having such vision. Thanks to the researches of the Master the true nature of the veil has been revealed now.

The real cause of the veil is the development of grossness arround the subtlest being. This subtlest being is inseparably one with the Ultimate Absolute. No noubt, the great seers of past were right in so far as they discoverd that egoism was a veil: but if they thought that this was the ultimate limit of human approach,most probably either their view was centred upon the grossness of the veil and the higher states were not considered as veils at all or they could not or did not use the power of transmission for higher approaches because of some apprehension or other reasons; or else they did not feel any necessity at all.

The founder of Sahaj Marga has demonstrated the possibility of man's transcending the grossness of egoism even while living in the body. This veil of the most rarefied and refined egoism is, no doubt, too subtle to come to view. Yet it is very gross as compared to man's higher states of light. These states of light also can be called as coverings, The Master's research has differentiated seven rings of light around the Centre. This whole region of light is termed by thd Master as the Central region. This is a vast region as if it were infinite ocean. Now, at last, the veil is no longer a mystery and the evil will dig its own grave.

***

Talks on Shri Babu Ji's

Commentary on the Ten Commandments of the Sahaj Marga

[By Dr. K. G. Varadachari, M. A., Ph. D., Reader in Philosophy, Shri Venkateshwar University, Tirupati, Andhra Pradesh]

Commandment IX

Mould your living so as to rouse a feeling of love and piety in others.

The ninth commandment is simple and straightforward. It says that on should live in such a way as to arouse in all or alround a feeling of love of God and pious living. One becomes imitable and an example to others. Secondly, it provokes not love of oneself or for oneself but to God. For one begins to ask oneself how it is that one lives so nicely as to evoke love for the individual himself because of the love that he has for God. The Brihadaranyaka Upanishad states that not for love of oneself does one love another, nor for the sake of love of another does one love him, but for the love of the Supreme Self or God does one love another. Because he sees God as the source of all life and love does one love everything or rather does one not shrink away from another. This view-point of God towards man and all is what is natural, whereas the way to love things in

this world for the pleasure they give and so on is unnatural. God shines on all equally in so far as He is the inner force or ANNA (food or spiritual power) that sustains all according to their status and evolution. Our aim being to reach the highest we mould ourselves in the manner of godly living and godliness which is precisely the experience of love to all.

Unless one loves all one cannot get the return of love. Love leads to real piety because it is the love of God in all and it is selfless.

God's Nature is similar to that of the Sun; His love flows to all in equal measure. One who loves God also begins to love all and draws all towards the Divine. The Kenopanishad states the condition of one who loves God. All beings seek him with love. Thus one develops the Divine nature when one loves God only and thus stirs the inward love within each and every one. God's approach to each individual or being is individualised and unique. This is the occult mystery of the unity of the One and the Many. The One manifests in the Many and in diverse ways It links Itself up with every one individually. There is only the unity of the source which relates all to one another. Thus in the natural or Sahaj Marga we link up ourselves with God through love and

discover that we love all and that others love us with Divine love. Even if in fact anyone seeks to love us differently it is our duty to make it possible for them to love us through Divine love or love us for the sake of the One Supreme and Ultimate Godhead or Reality.

It is true that Reality has a peculiar fascination for man which is distinct from the fascination which the unreal has for man. Our work is to withdraw from the fascination of the many as many and seek love of the One which is the essence of the many.

In spiritual life one has to learn the three 'R's– ridicule, repression and respect even as in ordinary life of education people say that one must know how to read, write and do arithemetic. One who loves God is ridiculed at the beginning; if one gets over that stage he finds that others put hinderances of all kinds before him and if even then he persists and goes indifferent to either ridicule or repression, people begin to be serious and seek to know why anyone should seek God and not the world. A shock thus coming to one leads to revaluation and naturally one reaches the state of love of all and gains love of all.

Master speaks of the deserts of love only when

one reaches the higher states. However, to practice the love of God in one's everyday life is to gain the love of all others who see in him the true essence of Being.

Nature or God is indeed working her own natural way and if one lives in coformity with her then he also becomes more and more attuned to the Ultimate Being.

The most natural way of living is Godly life for man and this life cannot be in contradiction to any other way of life when it is lived naturally. Man goes beyond the realms of hatred and passion and rejoices in the Being of God.

A truly Godly life is possible only through the love of God and such a Godly life produces in all beings the love and the piety that is central to the very life of the ABHYASI.

Commandment X

At bed time practising the presence of God (Master), repent for all the wrongs that you have done in the day and seek forgiveness of the Master for them and resolve not to repeat them.

The relationship that a devotee has to the Master must come to the fullest extent so as to mean to be one between Master and slave. This

is called DASATVA or DASABHUTATVA. Such is the dependence of the slave on the Master that he is almost nothing and his negation has reached a high stage (Master has described this in the Anant-Ki-Oer as the IXth granthi). It is at this stage that one begins to experience two things at once, one's connection with Bhuma (Infinity) and one's nothingness apart from the Master. By this becoming a BHAKTA (which is again one of absolute dependence on God and Master), one becomes nothing because of exclusive devotion to the PARAMPURUSHA or Master. This brings about vacuity in one's self and one's centre becomes God. This the Master has stated is like being born in another world (Anant-Ki-Oer). Thus we practise the presence of God. God's eyes are directed or attracted to oneself and it is thereafter His work and Direction. This state is our natural state–the state of utter dependence on God alone. It is described as Akincanata—nothingness.

It is true that we are asked to practise this from the very begining. Engaged as we are with the world, our activities do not at the beginning have this entire dependence on God or God's direction. Thus all our activities are imperfect. Imperfection is the cause of our wrong doing, and imperfection results from our not being in full

negation of ourselves or being nothing in ourselves. Thus wrong thoughts, deeds and speech arise. To recognize them as such is necessary. Thus one reviews one's whole day's thoughts and talks and actions, and begins to discern the imperfect manner of doing them. The keeping of a diary is helpful not merely for the purpose of noting our spiritual experiences but also of our wrong doings, doings done on our own initiative and without practice of God's and Master's presence and direction. It is necessary to review these and note them so that the mere entry of it in our diary will automatically draw the attention of the Master and speed up the process of rectification and purification. Repentence is for the loss of practice of nothingness and of presence of the Master. Confession in religion has this same purpose but being made into a technique it is likely to lead to abuses. Confessions in private or in public have no basic value unless one follows the same up to rectification or seeks God's power and help to lead him upto that stage when he will not ever go wrong: this is perfection.

Thus by practising the presence of God and seeking his guidance and treating God as one's confidante and true friend one gets nearer to Him. Man has, it is well known, three kinds of impurities which are MALA (Superficial impurities or dirt), VIKS-

EPA which are unreal projections of desires and so on for enjoyment, and lastly AVARANA or layers of grossness which overlay themselves on one and drag him down and restrict or indeed separate him from God. Removal of these is possible only by continuous ABHYAS so that one is taken nearer by God. Of course, it is God who finally or rather from the very beginning removes them and comes daily nearer and nearer to man. But one should on his part at least know that he suffers from them and wishes to get rid of them. There are so many who consider them to be excellent qualities of man. This inversion of thinking has to go. Much of our trouble arises from the wrong appearing as right & the right appearing as wrong. God's guidance alone can help us to see things in their true nature.

Thus one begins to improve the next day and feels Master's presence. Master becomes one's persistent conscience in all doings hindering us from repetition of the wrong acts of the previous day.

The bed time, as has been spoken of under the first Commandment, is the time of rest and contentment, of recuperation and remembrance and quiet recollection is possible. This is the best time prescribed by nature for recollection and reviewing and linking oneself with the Master. This Commandment thus is very important as it preaches the practice

of constant remembrance of the Master through day and night and always.

Thus do we pass from the Unreal to the Real-ASATO MA SATGAMAYA of the Upanishads, with the guidance and grace of the Master.

(Series Concluded)

In a discussion among Satsangis over Master's way of treating and addressing everyone as 'brother' or 'Sister' in accordance with Commandment No. 6 of Sahaj Marga, the Master himself pointed out, "we have to know all as brethren because they are really so in relation to the Father Almighty, whom we constantly remember and get nearer by knowing and treating them as such. Actually treating every body as 'brother' creates an atmosphere of peace in ones own heart and all around, which is so essential for the abhyasi's own spiritual progress, and creates conditions for the progress all around."

Psycho-Analysis, Self-Analysis and Psychic Penetration.

(Shri Raghunandan Prasad, Advocate.)

Most of the mental and nervous diseases are only violent manifestations of some deep seated inner malady. So long as the disease does not assume any violent form, we refuse to recognize it, all the same it operates and undermines our health secretly. Psycho-analysis provides us with one method to treat such ailments.

It recognizes three levels of individual consciousness–namely, the conscious, the subconscious, and the unconscious. The conscious desires of man, when denied satisfaction, are under more pressing demands are pushed into the subconscious and then into unconscious. They do not die out, but operate upon our mind and body from a secret place which defies observation. The psycho-analyst tries to bring back this desire on the surface of consciousness and provides a natural outlet, thus relieving or curing the patient of his disease. The method of treatment

met with some success and a whole psychology has been built upon it. The really successful and efficient psycho-analyst in the world are very few. But that does not diminish its value as a science or as an art of mental healing or detract from its importance.

Yogis have also been known to relieve and cure patients of their mental and nervous remedies. The question then arises how Yoga and psycho-analysis are related to each other, how the yogic method of treatment differs from the method of the psycho–analyst.

In the first place let us take note of the fact that the yoga recognizes four states or levels of consciousness:— the three recognized by the psycho-analyst, and one a superconscious state called TURIYA. From the standpoint of yoga, this superconscious state is the most important one, for all Yogic exercise and discipline is directed towards the attainment of this fourth state of the consciousness. This is a trancendantal state, which begs description. We may call it the individual-universal consciousness, that is, in this state of consciousness the individual transcends the limits of his physical and mental individuality and participates in the universal consciousness.

The method of psycho-analysis does not seem to have been unknown to the Yogis. But they never encouraged its practice in the way it is practised in the west. The Yogis were aware to any psycho-analysis but any outside agency, however competent and sympathetic. But they laid down SWADHAYAYA. In fact it is one of the five niyams or the principles of self development. Now this SWADHAYAYA literally means entering deep into one's ownself, entering into the repressed and unexplained regions of our consciousness.

The most modern method of analysing discovered by the westerners is that of "free association." But free association has its own limitations. A man seldom likes to convey his secret passion and urges to any body, particularly when they relate to his sex or private life. This tendency not to communicate is almost universal in the civilised societies, and particularly this tendency is strongest among the Indian womenfolk, most of whom would not even publicly mix with husbands, and even would not utter the names of their husbands before others, who when talking about their husbands would avoid their names and talk into pronouns. The Indian tradition in this matter widely differs from the traditions of Europe and America. This method of free association would be much less successful in

case of Indian women than it has been in the women of the so called advanced countries. A sense of modesty and shame is a great impediment in the way of the successful application of this method to the womenkind in India.

There are some matters in which man can be free to himself and with none else. It is doubtful whether it can successfully applied to hardened criminals. It is the man who knows himself best, and would not conceal anything from himself, and therefore it is he who can most successfully analyse himself. In the free association method man very often feels ashamed of himself, and would not take anybody in his confidence and even if he does, it will leave a stigma of moral illprivity of his self. For the success of psycho-analysis method it is necessary that the patient should co-operate with his physician and the physician would find himself utterly helpless in case the patient persistently refuses to co-operate. So the proper thing in the circumstances is to encourage a psycho-analysis of the patient by himself.

But suppose the patient is incapable of self-analysis, what is to be done in such circumstances. Under such circumstances, the Guru, without resorting to the method of free association employs

the method of psychic penetration into the mind of his shishya or disciple. This psychic penetration is successfully done only by one who can abide in the individual-universal consciousness. The Guru knows and need not be told. Just as conscious thought can be read so what lies embedded in the region of the sub-conscious and the unconscious can also be peeped into by those who have undergone a training and discipline for it. The method of free association may fail, and the method of self-analysis may not be possible. But this method of psychic penetration cannot fail. The most wonderful thing about it is that it can evoke a genuine and real subconscious and unconscious co-operation of the disciple himself without damaging his or her sense of honour and modesty.

Another great advantage of this method is that it makes the personality of the disciple dynamic, and makes it grow and blossom forth from within. It enables him to shake off his own complexes, chalk out a line of healthy development for himself. The methods of self-analysis and psychic penetration are unknown to westerners, who would denounce Yoga, as mystical, magical and unscientific.

—:o:—

The World Today

(*Shri Ishwar Sahai*)

The world today is not as it had been ages ago. The development of knowledge and experience has contributed enormously to our improved ways of physical living. Man today claims to have conquered the forces of Nature over land, water and air. The exploitation of Space too, not having been spared, is already going on not perhaps without apparent success. Yet there is no stop to it even at this stage. The scientific brains are still busy working out great wonders for the expectant world. In this respect we can surely claim to be living a better life than our forefathers did. We enjoy greater command over resources which we utilise to our best advantage.

This is one phase of the picture. But when we turn over the other side what do we find there ? We find real happiness and peace of mind missing almost everywhere. Anxiety, fear and insecurity is disturbing every mind and a state of chaos prevails all over. Frightful apprehensions of war, bloodshed and devastation seem to be haunting every moment.

What is all this due to ? The only reason that can be attributed to it is the unrestrained egrowth of absolute materialism, which has driven man far away from Nature. The human life has become almost completely artificial. The unethical trend of modern civilisation, bearing no relationship with moral or religious obligations is mainly responsible for it. Self, whether as an individual or as a class or nation is predominent in all phases of human life. Divinity has lost its hold upon the minds of the people. God is commonly treated as a superficial being, meant only to serve as a consolation to the weak in the hour of distress. The diversion of the human mind is mostly towards evil. Diplomacy is treated as a merit, hypocricy as art, selfishness as patriotism and vanity and show as the very requisites of a modern life. The achievements of science, insinuated with feelings of preponderence and exploitation have promoted the growth of destructive tendencies in the human mind.

With this picture of the world in view, it is difficult to decide whether the world is on the path of advancement or deterioration. To a materialistic mind it may seem to be a fair advancement but when we look to the other side, we can not help coming to the conclusion that it is definitely entailed with extreme distress, misery and unrest.

As such it can after all, be hardly accepted as a state of advancement. The world today is bitterly crying for peace and it is the main problem for which the best brains of the world are busy evolving an effective formula. The world organisations set up for the purpose are straining their every nerve to avoid the occurence of war inorder to establish peace on a permanent basis. But peace taken in the sense of 'no war' is definitely not the right approach to the problem, for even though there be no war, still the world may not be having peace in true sense. War, whether in action or in thought, has almost the same distressing effect upon the human mind. For the attainment of world peace it is, therefore, absolutely essential that war must be banished from the thought and an atmosphere of good will, security and contentment must prevail all over. But how that can be possible is in fact the real problem to be tackled with.

As a matter of fact humanity is composed of individuals and it is the individual that makes humanity and not the vice-versa. Therefore the problem confronting the world collectively is not in fact the problem of the world but of the individual. Thus world peace apart from being a question related to community, race or nation, is really the individual problem of every man. If man individually

enjoys internal peace there shall definitely be peace all round in the world. There can definitely be no peace anywhere unless there is a peace in every mind. For this it is necessary for every man to resort to means of developing peace of mind within himself. Generally this lack of internal peace is attributed to the effect of social, economic and political conditions. It may be so to some extent, but who, after all, is responsible for them ? Surely it is the individual himself, one or the other. Everything that prevails in the world all round has been the result of the individual action of the man. It is, therefore, the individual himself who has to mend and correct himself inorder to introduce an atmosophere of peace in the world. But unfortunately there are certain misconceptions about the real meaning of peace. Generally it is associated with the feeling of material joy or happiness which, for that reason, every one expects to be coming to him from outer physical sources. He thinks that if he is provided with most of what he desires for, or if his circumstances and environments happen to fall in agreement to his desires and wishes, he feels happy, thinking that he enjoys peace of mind because for the time being he finds himself free from worries. Thus he peace of mind depends upon physical happiness and happiness upon the gratification of his desires and wishes.

This is certainly a wrong view which is bound to keep a man in false delusion. As a matter of fact, it has too commonly been observed that most of those who are provided with all the material means of happiness, are found to be seriously lacking in internal peace. Joy and happiness are the sensual feeling, hence quite apart from real peace of mind which is a characteristic of soul. It would, therefore, be wrong to associate peace with the physical feeling of happiness. Besides desires do never have an end. The more they are satisfied the more they crop up. That means they must finally remain unfulfilled. Thus desires which at initial step seem to be a source of happiness turn into cause of distraction and disappointment which ultimately leads to the disturbance of peace. Moreover our endeavours for the fulfilment of our selfish desires more often bring us in conflict with the due interests of others and result in dissensions and rivalry–a disturbing element indeed.

We have, therefore, to understand that it is not really the fulfilment of ever-increasing selfish desires that can bring peace to our mind but some nobler ideal which might cover the due interests of all, inducing self-concern to pure necessity. The noble ideal of the Mission therefore induces man, to give

everyman his fair dues treating him as his own'. This is a universal principle which if followed in true sense is alone enough to solve the greatest problems of the world. It does not mean passive submission to encroachments and high-handed actions of certain self-seeking individuals or groups. 'Fair dues' applies uniformly in all cases. For an oppressed it may be proper redress and redemption of rights and privileges whereas for an oppressor it may be due suppression and punishment. Forceful resistance is not barred in cases where it is essential. Ones due rights are to be defended at all cost and any violation of it must be resisted with full force. But all this must be done in a spirit of cordiality and affection and not with a feeling of enmity, just as we favour or frown upon one of our dear ones in a spirit of own-ness.

Adherence to this principle will be easy if one developes feelings of love, contentment and resignation which are the essentials of a hormonious life. Generally people think resignation to be a form of passive submission, detrimental to the spirit of enterprise which is essential for the progressive growth. This is only a misconception. The spirit of enterprise is essential for success and must be maintained in the sense of duty. Our efforts for it

must be sincere but the results which follow must be taken up with contentment and resignation. This can easily be achieved if we try to develop moderation to help us in controlling the unbalanced tendencies of mind. That means the proper regulation of mind which in a word is the only solution of all our problems. But that is generally considered to be the scope of religion, for which reason some of the people think that it is religion alone that can help the establishment of world peace on a permenent basis.

* * *

An inquirer once approached the master with the classical problem whether God has a form or is formless.

The master good-humouredly said, "Suppose God has a form, and after a good deal of labour you reach Him; and then if He may run away, you will find the whole of your labour gone waste !"

The intelligent inquirer put in, "You rightly suggest that the God with a form will be subject to all the limitations of form. But similarly the formless God will be subject to the limitations of formlessness."

The master pointed out, "Therefore, you need not worry over the problem at the very outset. Start in a way suited to you and let the Reality dawn by Itself as It may."

समर्थ सद्गुरुस्तवनम्

विश्वं दर्पणदृश्यमाननगरीतुल्यं निजान्तर्गतं
पश्यन्नात्मनि मायया बहिरिवोद्भूतं यथा निद्रया ।
यस्साक्षात्कुरुते प्रबोधसमये स्वात्मानमेवाद्वयं
तस्मै श्रीगुरुमूर्तये नम इदं श्रीदक्षिणामूर्तये ॥

[जो दर्पण में प्रतिबिम्बित नगरी की भाँति अपने में स्थित विश्व को अपने में ही देखते हैं, (यद्यपि) निद्रित अवस्था (में स्वप्न के अनुभव) की भाँति माया द्वारा बाहर स्थित हुआ प्रतीत होता है; जो जागने के समय की अपने आपभाँति का ही अद्वैत रुप में साक्षात्कार करते हैं— उन श्री दक्षिणामूर्ति स्वरुप अपने सद्गुरु को यह नमस्कार (निवेदित) है।

—आचार्य शङ्कर : दक्षिणामूर्ति स्तोत्र]

[He who sees in Himself the universe which is contained within Himself, like a city reflected in a mirror,

But appearing to be external as a result of Maya even as (a dream-experience appearing external) because of sleep;

He who realises at the time of awakening only His own self without a second,

To That Dakshinamurti in the form of my own Preceptor (Guru) I offer this obeisance.

—Acharya Shankar : Dakshinamurti Stotra]

TEN COMMANDMENTS OF SAHAJ MARGA

1. Rise before dawn. Offer your prayer and Puja (worship), at the fixed hours, preferably before sunrise, sitting in one and the same pose. Have a seperate place and 'asan' (seat) for worship. Purity of mind and body be specially adhered to.

2. Begin your Puja, with a prayer for spiritual elevation, with a heart full of love and devotion.

3. Fix up your goal which should be 'Complete Oneness' with God. Rest not, till the ideal is achieved.

4. Be plain and simple, to be identical with Nature.

5. Be truthful. Take miseries as divine blessings for your own and be thankful.

6. Know all people as brethern and treat them as such.

7. Be not revengeful for the wrongs done by others Take them with gratitude, as heavenly gifts.

8. Be happy to eat in constant divine thoughts, whatever you get with due regard to honest and pious earning.

9. Mould your living so as to rouse a feeling of love and piety in others.

10. At bed time, feeling the presence of God, repent for the wrongs committed. Beg forgiveness in a supplicant mood, resolving not to allow repetition of the same.